



THE TIMES OF INDIA

Date: 08-09-17

Myanmar connect

Bilateral ties on firm footing, but Naypyidaw needs to resolve Rohingya crisis

TOI Editorials



Prime Minister Narendra Modi's first bilateral visit to Myanmar has reaffirmed relations with a crucial neighbouring country. New Delhi and Naypyidaw share a time-tested bond that even withstood international sanctions against Myanmar during the latter's military regime. Today, when Myanmar is in the process of democratisation and is opening up to the world, India's role in building Myanmar infrastructure and institutions assumes greater significance. A total of 11 agreements have been signed between the two sides during this visit, spanning areas like maritime security, strengthening democratic institutions in

Myanmar, health and information technology. Given the history of insurgencies in India's northeast, New Delhi would like more help from Naypyidaw in securing the common border and dismantling anti-India militant camps operating from Myanmar soil. Groups like the dreaded NSCN (Khaplang) continue to find refuge in Myanmar and conduct guerrilla operations against Indian security forces. Besides, trade and connectivity between the northeast and Myanmar is vital for actualising India's Act East policy from which Naypyidaw too stands to benefit.

That said, it can't be ignored that Modi's visit comes against the backdrop of the Rohingya crisis in Myanmar's Rakhine state. An estimated 1,25,000 Rohingyas have fled to neighbouring Bangladesh after Myanmar's security forces initiated a crackdown in the wake of attacks against police and army posts blamed on an armed Rohingya group. But Rohingyas have been facing discrimination for decades in Myanmar where they are not recognised as citizens – despite living there for generations – and have been at the receiving end of violence perpetrated by Buddhist extremists. In fact, Myanmar's latest crackdown against Rohingyas has been described in some quarters as genocide with reports of murder, rape and torture of civilians filtering in. Particularly shocking has been the stubborn refusal of Myanmar's state counsellor and Nobel Peace laureate Aung San Suu Kyi to recognise the plight of Rohingyas. Suu Kyi can't be selective about championing human rights. On New Delhi's part, it's understandable that Modi doesn't want to rub Naypyidaw the wrong way and push it into Beijing's orbit, as the Chinese have no human rights scruples. Yet, he could have done more to impress upon Myanmar's leadership the need to provide Rohingyas with citizenship. Domestically New Delhi should rescind its deportation order against Rohingya refugees, which is in terrible taste considering they are facing such brutality in Myanmar.

बिज़नेस स्टैंडर्ड

Date: 08-09-17

फायदे की फसल

संपादकीय



मध्य प्रदेश सरकार ने बाजार में न्यूनतम समर्थन मूल्य हासिल न कर पाने वाले किसानों की नकद क्षतिपूर्ति करने की योजना बनाई है जो स्वागतयोग्य है। इस योजना के तहत राज्य सरकार प्रदेश तथा अन्य राज्यों की पिछली बाजार दरों के आधार पर एक औसत मूल्य तय करेगी। इसके बाद किसान को न्यूनतम समर्थन मूल्य और आदर्श मूल्य में जो भी ज्यादा होगा उसका भुगतान किया जाएगा। ऐसा यह सुनिश्चित करने के लिए किया जा रहा है ताकि किसानों को नुकसान नहीं हो। यह बिल्कुल संभव है कि देशव्यापी स्तर पर लागू न्यूनतम समर्थन मूल्य क्षेत्र विशेष

के किसानों के लिए सही साबित न हो। हालांकि शुरुआत में यह योजना चुनिंदा दलहन और तिलहन पर ही लागू होगी। ये वे फसलें हैं जहां गेहूं और चावल के उलट सरकारी खरीद आमतौर पर कम रहती है। बाद में इस योजना को तमाम प्रमुख फसलों पर लागू किया जा सकता है। किसानों की आर्थिक दुर्दशा की एक बड़ी वजह यह भी है कि फसल कटने के बाद उनको उसकी उचित कीमत नहीं मिल पाती है। ऐसे में कर्ज का बोझ, आत्महत्या के मसले और कर्ज माफी तथा आरक्षण जैसी मांगें सामने आने लगती हैं। कई मामलों में तो उत्पादकों को जो कीमत मिली वह उनकी उत्पादन लागत से भी कम थी। इस वर्ष भी जबरदस्त फसल उत्पादन के चलते ऐसा ही हुआ। इस साल बंपर उत्पादन के चलते अधिकांश जिनसे कीमत औंधे मुंह गिर गई। न्यूनतम समर्थन मूल्य की अवधारणा सन 1960 के दशक में हरित क्रांति से जुड़ी है। यह मुख्य तौर पर भारतीय खाद्य निगम और राज्यों की एजेंसियों द्वारा प्रमुख अनाज की खरीद पर निर्भर करती है। यह खरीद एक तयशुदा मूल्य पर की जाती है।

बहरहाल देश में यह व्यवस्था मोटे तौर पर गेहूं और चावल तथा कुछ हद तक कपास और गन्ने की फसल पर लागू है। वह भी उन्हीं राज्यों में जहां खरीद, ढुलाई और भंडारण की सुविधाएं हैं। अन्य फसलों तथा अन्य जगहों पर यह पूरी तरह अप्रासंगिक है और उत्पादकों को न चाहते हुए भी बेहद कम कीमत पर उपज बेचनी होती है। ऐसे में आश्चर्य नहीं कि अधिकांश किसान अभी तक इसके बारे में ठीक से जानते तक नहीं। राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण संगठन के जुलाई 2012 और जून 2013 के बीच जुटाए आंकड़ों से पता चला कि केवल 32 फीसदी धान उगाने वाले ही सरकार की न्यूनतम समर्थन मूल्य योजना के बारे में जानते हैं। इसमें भी महज 13.5 फीसदी किसान ही अपनी उपज बेच पाते हैं। ऐसे में वक्त आ गया है कि न्यूनतम कीमत की आश्वस्ति देने वाली इस योजना को ऐसी विधि से बदल दिया जाए जहां बाजार से छेड़छाड़ नहीं हो। ऐसा करते हुए किसानों को कम कीमत के जोखिम से बचाना भी जरूरी है। ऐसा कदम इसलिए भी आवश्यक है क्योंकि जोखिम प्रबंधन के अन्य उपाय मसलन फसल बीमा और वायदा कारोबार आदि ज्यादा सफल नहीं हो सके हैं। इतना ही नहीं 'एक राष्ट्र एक एमएसपी' की मौजूदा अवधारणा मूल रूप से गलत है क्योंकि उत्पादन लागत क्षेत्रवार आधार पर अलग-

अलग है। बल्कि किसान दर किसान इसमें फर्क आ जाता है। नीति आयोग के कार्यबल ने 2015 में कीमत में अंतर का भुगतान करने की वकालत कर दी थी। उसने कृषि बाजार में आई विसंगति और गेहूं तथा चावल की ज्यादा उपज के लिए एमएसपी व्यवस्था को जिम्मेदार ठहराया था। इसके अलावा इसके चलते सरकारी गोदामों में भी अनाज का अनावश्यक भंडारण देखने को मिला। इसके रखरखाव और भंडारण पर भारी खर्च करना पड़ा। इसमें नुकसान भी हुआ। नई प्रस्तावित व्यवस्था में अनाज का रखरखाव सरकार को नहीं करना पड़ेगा। जबकि इसके जरिये देश भर में प्रमुख फसलों को प्रभावी मूल्य समर्थन दिया जा सकता है। इससे सभी किसान लाभान्वित होंगे।



दैनिक भास्कर

Date: 08-09-17

भारत के धनी और निर्धन राज्यों में बढ़ रही है खाई

अर्थव्यवस्था...द इकोनॉमिस्ट ने कहा- सस्ते श्रम और टेक्नोलॉजी के बावजूद गरीब राज्यों में तेजी से तरक्की न होना अर्थशास्त्रियों के लिए पहली। कई राज्य ऐसे हैं, जहां कंपनियों को काम करने में कठिनाइयां आती हैं।

देशों के लिए धनी होना आसान हो जाता है यदि उनके पड़ोसी पहले से ही धनी हों। पूर्वी एशिया की आर्थिक तरक्की की तुलना हंसों के समूह से की जाती रही है, जिसमें सबसे आगे जापान और आखिर में म्यांमार जैसे पिछड़े देश हैं। यही बड़े देशों में भी दिखता है। मसलन पिछले दशक में चीन के धनी प्रांतों की तुलना में गरीब प्रांतों ने तेजी से आर्थिक तरक्की दिखाई है। भारत में मामला अलग है। एक स्तर पर आना तो दूर, इसके राज्यों में असमानता लगातार बढ़ रही है। टैक्स व्यवस्था में हाल के आमूल बदलाव से स्थिति और खराब हो सकती है। मुंबई के कुछ पेंटहाउस और बेंगलुरु में स्टार्टअप ऑफिस छोड़ दें तो देश के सारे हिस्से वैश्विक पैमाने पर तुलनात्मक रूप से गरीब हैं। वैसे देश की 1.30 अरब आबादी दुनिया की आबादी का तीन और चार दशमांश होता है। जहां प्रतिव्यक्ति आय (क्रय शक्ति के हिसाब से) 6600 डॉलर (4.23 लाख रुपए) है पर औसत में बड़ा अंतर नहीं दिखता। केरल में औसत व्यक्ति की सालाना आय 9,300 डॉलर (करीब 6 लाख रुपए) है, जो यूक्रेन से अधिक है, और वैश्विक स्तर पर मध्यस्तर की है। लेकिन, 2,000 डॉलर (1.29 लाख रुपए) की सालाना प्रतिव्यक्ति आय के साथ 12 करोड़ की आबादी वाला जमीन से घिरा बिहार वैश्विक स्तर पर एकदम नीचे अफ्रीका का माली या चाड जैसे देशों के साथ है। यह फर्क बढ़ता जा रहा है। विचार समूह आईडीएफसी के प्रवीण चक्रवर्ती और विवेक देहेजिया ध्यान दिलाते हैं कि 1990 में तीन सबसे धनी बड़े राज्यों की आय तीन गरीबतम राज्यों की तुलना में 50 फीसदी ज्यादा थी। मोटेतौर पर यह फर्क उतना ही था जितना अमेरिका या यूरोपीय संघ में आज है और चीन की तुलना में बेहतर था। अब वे तीनों राज्य तीन गुना धनी हैं। दुनिया के धनी इलाकों में हाल के दशकों में आय में अंतर बढ़ा है लेकिन, भारत का अनुभव अर्थशास्त्रियों को चकरा देता है। गरीब इलाके धनी इलाकों में विकसित टेक्नोलॉजी का फायदा उठाते हैं, जिसमें ट्रेन से लेकर मोबाइल तक की सुविधाएं हैं। गरीब इलाकों के वर्कर कम मजदूरी स्वीकार कर लेते हैं और इसलिए कंपनियां वहां नई फैक्ट्रियां लगाती हैं। यदि माल और लोगों की आवाजाही की बाधाएं दूर की जाएं तो गरीब राज्यों का धनी राज्यों के बराबर आने की प्रक्रिया और तेज हो जाती है। चीन में ऐसा ही हुआ। एक तो बाजार व फैक्ट्रियां वहां गईं जहां मजदूरी कम थी और दूसरा सरकार ने गरीब इलाकों में इंफ्रास्ट्रक्चर

पर भारी निवेश किया। भारत सरकार के मुख्य आर्थिक सलाहकार अरविंद सुब्रह्मण्यम ने लिखा था कि राज्यों में बढ़ता फर्क उनके लिए 'बड़ी पहेली' है। 1991 के छोटे से उदारीकरण के दौर ने तीव्र तरक्की के फायदों को असमान ढंग से वितरित करके शुरू में भूमिका निभाई होगी लेकिन, असमानता का वह दौर अब तक स्वतः ठीक हो जाना चाहिए। एक थ्योरी खराब इंफ्रास्ट्रक्चर, लालफीताशाही और सांस्कृतिक बैरियर को दोष देती है। एक राज्य से दूसरे में माल पहुंचाना निर्यात जितना थकाने वाला काम हो सकता है। समानता लाने वाली वृद्धि का जनक आंतरिक आप्रवास सांस्कृतिक व भाषा संबंधी बाधाओं का शिकार होता है।

धनी दक्षिणी राज्यों के विपरीत उत्तर के गरीब राज्यों में हिंदी बोली जाती है। खान-पान की आदतें भी इतनी अलग हैं कि प्रवासी परेशान हो जाता है। अपने गृह प्रदेश के बाहर सब्सिडी व अन्य फायदे लेना कठिन होता है। सुब्रह्मण्यम इन तर्कों को अतिशयोक्तिपूर्ण मानते हैं। वे कहते हैं, भारत में चीन जितना आप्रवास न भी हो पर फिर भी काफी है और बढ़ रहा है। अंतर-राज्यीय व्यापार अच्छा है, जिससे सीमाओं पर ज्यादा अड़चनें न होने का पता चलता है। दूसरी थ्योरी विकास के भारतीय मॉडल को देखती है। सुब्रह्मण्यम दलील देते हैं कि आर्थिक तरक्की श्रमबल आधारित मैन्यूफैक्चरिंग की बजाय आईटी जैसे कौशल पर केंद्रित हो गई है, जो समानता में बाधक है। श्रम कितना ही सस्ता हो लेकिन, शायद नर्धन इलाकों में कौशल का आधार कमजोर होने से वे धनी प्रतिद्वंद्वियों के यहां जॉब नहीं ले पाते। मोटेटौर पर यही स्पष्टीकरण सही है, वजह है कमजोर शासन। जैसे बिहार में मजदूरी की निम्न दरें आकर्षित करती हैं लेकिन, कई कंपनियों का निष्कर्ष है कि फायदे की तुलना में वहां की कठिनाइयां अधिक हैं। यदि यह सही है तो जीएसटी के आने के बाद तो स्थिति और खराब हुई होगी। इससे राज्यों को कुछ वित्तीय स्वायत्तता छोड़नी पड़ी है जैसे निवेशकों को आकर्षित करने के लिए टैक्स में छूट देने का अधिकार। चक्रवर्ती कहते हैं कि इससे गरीब राज्यों का धनी वर्ग में आना और कठिन हो जाएगा। सुब्रह्मण्यम ध्यान दिलाते हैं कि समानता लाने वाली ताकतें मजबूत हो रही हैं। आमदनी चाहे गिरी हो लेकिन, मानव विकास सूचकांक पर शिशु मृत्युदर और अपेक्षित आयु के मामले में वे तेजी से उस स्तर पर बढ़ रहे हैं, जहां तमिलनाडु जैसे धनी राज्य पहुंच चुके हैं। युवा आबादी बड़े पैमाने पर गरीब राज्यों के लिए अवसर हैं, बशर्ते वे पर्याप्त रोजगार पैदा कर सकें। आर्थिक तरक्की में समान स्तर ऐसे देश में वांछित है, जहां पिछड़े राज्यों में दुनिया के निर्धनतम लोग रहते हैं। लेकिन, इससे राजनीतिक खतरा भी दूर हो सकता है। वह यह कि धनी राज्य सोच सकते हैं कि इतने गरीब राज्यों के साथ रहना क्या उनके हित में है? कई राज्यों में क्षेत्रीय राजनीतिक दल राष्ट्रीय दलों से स्पर्धा करते हैं और संघीय सरकार में उनका ज्यादातर प्रभुत्व रहा है। वे ऐसी किसी बात को खारिज करते हैं। भारतीय राज्यों की भिन्न दिशा में जाने वाली तरक्की पर प्रश्न चकराने वाले हैं। वे और भी गंभीर हो सकते हैं।

Date:08-09-17

भारतीय राष्ट्रवाद यानी असहमति पर सहमति

संदर्भ... विविधतापूर्ण और बहुलतावादी लोकतांत्रिक व्यवस्था को बढ़ती असहिष्णुता से उत्पन्न खतरा।

शशि थरूर

सत्तर साल पहले 15 अगस्त 1947 की मध्यरात्रि को प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू ने ब्रिटिश साम्राज्य से भारत के स्वतंत्र होने की घोषणा की। नेहरू ने कहा, 'इतिहास में ऐसे क्षण दुर्लभ होते हैं जब हम पुराने से नए में जाते हैं, जब एक युग खत्म होता है और लंबे समय से दमित किसी राष्ट्र की आत्मा को अभिव्यक्ति मिलती है।' उसके साथ ही देश ने शासन में उल्लेखनीय प्रयोग की शुरुआत की,

जो आज तक जारी है। यह ऐसा प्रयोग था, जो विंस्टन चर्चिल को अकल्पनीय लगता था। एक बार वे इस विचार को खारिज करने के लहजे में बोले थे, 'भारत तो सिर्फ भौगोलिक अभिव्यक्ति है। यह भूमध्यरेखा से ज्यादा सिंगल कंट्री नहीं है।' चर्चिल शायद ही कभी भारत के बारे में सही ठहरे हों। लेकिन, यह सही है कि विभिन्न जातीय समूहों, एक-दूसरे को समझने में आने वाली भाषाओं की प्रचूरता, भौगोलिक स्थितियों मौसम की कई किस्मों, धर्म सांस्कृतिक प्रथाओं की विविधता और आर्थिक विकास के विषम स्तरों के मामले में कोई देश भारत से तुलना नहीं कर सकता। प्रायः कुछ मजाक के रूप में इस खासियत का उल्लेख किया जाता है कि, 'भारत के बारे में आप जो भी कह सकते हैं, तो उसका उलटा भी सच है।' भारत के बारे में हर सच का खंडन किसी दूसरे सच से किया जा सकता है। सच तो यह है कि भारत के बारे में आप सिर्फ बहुवचन में ही बात कर सकते हैं। हम घिसेपिटे जुमले का प्रयोग करें तो कहेंगे कि यहां एक साथ कई भारत मौजूद हैं। सबकुछ असंख्य स्वरूपों में मौजूद है। कोई सर्वसम्मत मानक नहीं है, कोई तय रूपरेखा नहीं है, चीजों को देखने-करने का कोई 'एक रास्ता' नहीं है। यहां तक की देश के ध्येय वाक्य 'सत्यमेव जयते' को भी कई तरह से समझा जा सकता है। भारत कम से कम 1.30 अरब सत्यों का घर है। यही विविधता और जटिलता है, जिसके कारण ब्रिटिश इतिहासकार ईपी थॉम्पसन भारत के बारे में यह कहने पर मजबूर हुए, 'शायद दुनिया के भविष्य के लिए यह सबसे महत्वपूर्ण देश है।' वे इसे स्पष्ट करते हैं, 'दुनिया की सारी धाराएं इस समाज में प्रवाहित होती हैं.. ऐसा कोई विचार नहीं है, जो पश्चिम या पूर्व में सोचा जा रहा हो और वह किसी भारतीय मस्तिष्क में सक्रिय हो।' यह देश जिस तरह अपनी व्यवस्था चलाता है उसमें इसकी असाधारण बहुलता को मान्यता मिलती है। यहां सारे समूह, आस्थाएं, स्वाद और विचारधारा जीवित हैं और उनकी अपनी जगह है। जब ज्यादातर विकासशील देशों ने राष्ट्र निर्माण आर्थिक विकास के लिए तानाशाही का मॉडल अपनाया, तब भारत ने बहुदलीय लोकतंत्र चुना। यह लोकतंत्र कितना ही स्वैच्छाचारी, शेखी बघारने वाला, भ्रष्ट और अक्षम लगता हो लेकिन, सारे तनावों और 22 माह के आपातकाल के बावजूद फलता-फूलता रहा है। कई लोगों को तो आज भी यह अराजक और बेमेल-सा देश लगता है। लेकिन, अनोखी विविधता के कारण यह ऐसी साहसिक यात्रा है, जिसमें सारे विकल्प खुले हैं और सबकुछ संभव है। परिणाम स्वरूप जो राष्ट्रीय पहचान सामने आती है वह दुर्लभ प्रजाति है। ज्यादातर जैसा होता है वैसा यह भाषा आधारित देश नहीं है। भारत में 23, संभव है 35 भाषाएं हैं, यह इस पर निर्भर है कि आप संविधान की मानते हैं या भाषाविदों की। यह भूगोल पर आधारित नहीं है। पर्वतों और समुद्र से बने उपमहाद्वीप का नैसर्गिक भूगोल तो 1947 के विभाजन में बंट गया। किसी नस्ल या जातीय समूह पर आधारित भी नहीं है। भारतीय होने का मतलब किसी एक नस्ल का होना नहीं है। इसके उलट जातीयता से देखें तो कई भारतीय हमवतनों की बजाय विदेशियों से मिलते हैं। भारतीय पंजाबी और बंगालियों की समानता क्रमशः पाकिस्तानी बांग्लादेशियों से ज्यादा मिलते हैं। आखिर में भारतीय राष्ट्रवाद धर्म पर भी आधारित नहीं है।

देश मानव जाति को ज्ञात सारे धर्मों का घर है और हिंदू धर्म का तो कोई स्थापित संगठन है और कोई हायराकी है पर एक जैसी आस्था या आराधना का तरीका जरूर है, जो हमारी विविधता भी बताता है और समान सांस्कृतिक विरासत भी। भारतीय राष्ट्रवाद तो एक विचार पर आधारित है : एक ऐसी शाश्वत भूमि, जो प्राचीन सभ्यता से निकली है, साझा इतिहास से जुड़ी है और बहुलतावादी लोकतंत्र से बनी हुई है। यह अपने नागरिकों पर कोई संकुचित धारणा नहीं थोपता। आपमें एक साथ कई बातें हो सकती हैं। आप अच्छे मुस्लिम हो सकते हैं, एक अच्छे केरल वासी हो सकते हैं और इसके साथ एक अच्छे भारतीय भी हो सकते हैं। जहां फ्रायडवादी 'मामूली मतभेदों के मोहवादे' से निकली भिन्नताओं की बात करते हैं, भारत में हम महत्वपूर्ण मतभेदों की समानता का जश्न मनाते हैं। यदि अमेरिका उबलता कढ़ाह है तो भारत थाली है, अलग-अलग बाउल में व्यंजनों का शानदार चयन। प्रत्येक का स्वाद अलग, दूसरों में मिल ही जाए यह भी जरूरी नहीं लेकिन, वे एक-दूसरे के पूरक जरूर हैं। सब मिलकर एक संतुष्ट करने वाला भोज निर्मित करते हैं। इस तरह भारत का विचार यानी कई जन-समूहों को गले लगाना है। यह ऐसा विचार है कि जाति, नस्ल, रंग, संस्कृति, खान-पान, वेशभूषा और रीति-रिवाजों में गहराई से विभाजित लोग भी एक लोकतांत्रिक सर्वसहमति पर एकजुट हो सकते हैं। वह यह कि हर किसी को केवल असहमत होने के जमीनी कायदों को मानना है। बिना सर्वसहमति के कैसे काम चलाएं इस पर सर्वसहमति ने ही भारत को पिछले 70 वर्षों में फलता-फूलता रखा है। जबकि इसने ऐसी चुनौतियों का भी सामना किया है, जब कई लोगों ने इसके बिखरने का अनुमान व्यक्त कर

दिया। भारत के संस्थापकों ने अपने सपनों का संविधान लिखा। हमें उनके आदर्शों का पासपोर्ट दिया गया है। लेकिन, आज उन आदर्शों को बढ़ती असहिष्णुता और उत्तरोत्तर आक्रामक होते बहुसंख्यकवाद से खतरा पैदा हो गया है। हम सब भारतीयों को समावेशी, बहुलतावादी, लोकतांत्रिक और न्यायपूर्ण भारत के प्रति फिर से प्रतिबद्ध होना चाहिए। उस भारत के प्रति जिसे स्वतंत्र करने के लिए महात्मा गांधी ने संघर्ष किया।



दैनिक जागरण

Date: 08-09-17

उचित आक्रोश

कर्नाटक की राजधानी बेंगलुरु में पत्रकार एवं सामाजिक कार्यकर्ता गौरी लंकेश की हत्या पर चौतरफा रोष और आक्रोश स्वाभाविक ही है। इस तरह की हत्याएं सभ्य समाज के समक्ष उपस्थित गंभीर खतरों को ही रेखांकित करती हैं। गौरी लंकेश की हत्या एमएम कलबुर्गी, गोविंद पनसारे और नरेंद्र दाभोलकर की हत्याओं की याद दिलाने वाली है। ये सभी लेखक-बुद्धिजीवी के साथ-साथ सामाजिक कार्यकर्ता के तौर पर भी जाने जाते थे। ऐसे लोगों की हत्या देश की बदनामी का कारण बनती है। विडंबना यह है कि इनमें से किसी की भी हत्या के कारणों की तह तक नहीं पहुंचा जा सका है। कर्नाटक सरकार को यह सुनिश्चित करना होगा कि गौरी लंकेश की हत्या की जांच में किसी तरह की हीलाहवाली न होने पाए। इससे संतुष्ट नहीं हुआ जा सकता कि कर्नाटक सरकार ने विशेष जांच दल के गठन की घोषणा कर दी है, क्योंकि कर्नाटक सीआईडी दो साल बाद भी एमएम कलबुर्गी की हत्या के कारणों का पता नहीं लगा सकी है। वैसे तो कानून एवं व्यवस्था के मामले में कर्नाटक सरकार के लचर रवैये को देखते हुए गौरी लंकेश की हत्या की जांच सीबीआई को सौंपने की मांग उचित ही नजर आती है, लेकिन इसकी अनदेखी नहीं की जा सकती कि यह एजेंसी नरेंद्र दाभोलकर की हत्या के मामले में किसी ठोस निष्कर्ष तक नहीं पहुंच सकी है। इसी तरह महाराष्ट्र पुलिस का विशेष जांच दल गोविंद पनसारे के हत्यारों तक पहुंचने में नाकाम है। ऐसा क्यों है, इसकी तह तक जाने की जरूरत है। यदि सामाजिक कार्यकर्ताओं की हत्या के आरोपी इसी तरह बचे रहे तो इससे कानून का शासन गंभीर सवालों से ही घिरेगा। गौरी लंकेश की हत्या को लेकर कई राजनीतिक दल जिस तरह न्यायाधीश की भूमिका में आ गए हैं और अंतिम निष्कर्ष पर पहुंचते दिख रहे हैं उससे तो यही अधिक प्रकट हो रहा है कि उनकी दिलचस्पी इस हत्या का राजनीतिक लाभ उठाने में ही अधिक है। इसमें दो राय नहीं कि गौरी लंकेश हिंदूवादी संगठनों की प्रबल आलोचक थीं, लेकिन क्या इतने मात्र से उनकी हत्या के लिए भाजपा, संघ और यहां तक कि मोदी सरकार को जिम्मेदार ठहराया जा सकता है? कुछ राजनीतिक दल यही कर रहे हैं। हैरानी यह है कि कांग्रेस यह काम कुछ ज्यादा ही बढ़चढ़ करके कर रही है, जबकि कर्नाटक में उसकी ही सरकार है। कांग्रेस जैसा रवैया वामपंथी दलों का भी है जिनके शासन वाले केरल में राजनीतिक विरोधियों की हत्याएं आम बात हैं। हत्या जैसे जघन्य अपराध पर विचारधारा के आधार पर प्रतिक्रिया व्यक्त करना कुल मिलाकर समाज को गलत संदेश देना है। कम से कम राजनीतिक दलों को तो ऐसी क्षुद्रता से बचना चाहिए, क्योंकि जब वे दोहरा रवैया अपनाते हैं तो फिर उनके समर्थक भी मनमानी करते हैं। विचारधारा के प्रति प्रतिबद्धता का यह मतलब नहीं हो सकता और न ही होना चाहिए कि हिंसा-हत्या के किसी मामले में तो मुखर होकर विरोध किया जाए और किसी अन्य मामले में मौन सा धारण कर लिया जाए। सभ्य समाज की निशानी यही है कि हर विचारधारा के लोगों को सम्मान मिले और उनसे सहमति अथवा असहमति लोकतांत्रिक एवं मर्यादित तरीके से व्यक्त की जाए। हमारे राजनीतिक दल यह जितनी जल्द सीखें, उतना ही बेहतर।

Date: 07-09-17

Welcome the refugee

On the Rohingya, India is failing to live up to its own record of compassion and hospitality for the persecuted

Editorial

Wir schaffen das (we can do it)". Those three words with which German Chancellor Angela Merkel opened her country's doors to refugees from Syria in 2015, at a time when no other country wanted them, dramatically increased Germany's prestige and stature in the world. Sadly, India does not take its cues from Merkel, who spoke of her country's historic responsibility in making that decision. Not being a signatory to the 1951 United Nations Convention on the Status of Refugees or its 1967 protocol that lays down the obligations of a host country to those who seek refuge in its territory, India would not be in breach of any international law in turning away the Rohingya people. Nor does it have a domestic law for refugees. Still, India has big power aspirations, and to that end at least, it must act like one. The Rohingya, about 1 million in all, are the world's most persecuted ethnic Muslim community. Though they have lived in the Rakhine province of Myanmar, that country has deprived them of citizenship, and restricted their freedom of movement to limit their access to economic opportunities. Over the last year, the Myanmar Army has used attacks by a group calling itself the Arakan Rohingya Salvation Army to launch ever widening crackdowns on the Rohingya. In the last three weeks, tens of thousands have fled Rakhine and crossed the border into Bangladesh. At a time like this, the statement by Minister of State for Home Kiren Rijiju that the government is making plans to "deport" the Rohingya who already live in this country, makes India and Indians seem small-minded and insecure, rather than a nation with a long and confident record of compassion towards people seeking safe haven from persecution in their own countries.

Rijiju ticks off critics by reminding them that India does not need lessons in compassion as it has taken in hundreds of thousands of refugees in the past. But he himself seems to learn no lessons from the times that independent India accepted Tibetans, East Pakistanis, and Sri Lankans, each wave causing some despair, but also reaffirming the country's faith in itself and its place in the world. The truth is that a BJP-ruled India seems ready to welcome only Hindu refugees fleeing countries where they are a persecuted minority; the Rohingya, being Muslim, do not fit the bill. There may be radicalised Rohingya, and the ARSA is said to have links with the Lashkar-e-Toiba. But it is the job of the intelligence and security apparatus to weed out the bad, so that there is no tarring of an entire community. If India is genuinely concerned about the influx, Prime Minister Narendra Modi should have told Myanmar during his visit there not to drive out the Rohingya.

Date: 07-09-17

In defence of the individual

That an individual can source divinity within herself was unimaginable for religious institutions. But for the institution of the nation state, the individual remains as suspect.

Apoorvanand

The recent order of the National Broadcasting Standards Authority (NBSA) penalising a popular TV channel for misrepresenting the poet Gauhar Raza in its news bulletins is significant in many ways. It restores to Raza his dignity and integrity which the channel felt free to play with. But it has larger implications for the question of individual liberty in a democracy like India. It leads us to think about the role of institutions in ensuring that an individual can hold her head high when pitted against the most sacred deity of our times — the nation. This order is also important in times when an individual with a public face is destined to be the representation that the media decides to make of him. The Shankar-Shad Mushaira, an iconic cultural event held annually in Delhi featuring poets from Pakistan and India, was called a mushaira of a gang of Afzal lovers. Raza was dubbed as a supporter of those who seek to break the nation. His fault? He had dedicated one of his nazms, written much earlier, to Rohit Vemula and had mentioned Kanhaiya Kumar while reciting another poem. JNU academic Nivedita Menon was portrayed by the same channel as a professor teaching anti-nationalism to her students. In its repeat telecast focusing on Menon, the channel kept asking its viewers to decide for themselves what to do with such professors. It was not difficult to sense the violence it hid. Away from Delhi, Rajshree Ranawat of the Jai Narain Vyas Jodhpur University was declared a collaborator of anti-nationals by newspapers in Rajasthan for having dared to invite the “anti-national” Menon to a seminar. Close to Delhi, Snehsata Manav of the Central University of Haryana, Mahendragarh, was similarly denounced as an anti-national for having staged a play, based on a short story by Mahasweta Devi, criticising the security forces.

That an individual can source divinity within herself was unimaginable for religious institutions. But for the institution of the nation state, the individual remains suspect as well. It was thought that modernity coupled with democracy would automatically establish the primacy of the individual. That has not happened. The idea of the individual still remains hazy. Not only does the idea need constant clarification and interpretation, it also needs to be practised unceasingly and visibly. Who can do it? Who has the resources to work on it? Capitalism, according to Marx, robs a person of her individuality. How can one assert her individuality when her abilities to hear, see, taste, touch, see, speak, think, imagine or create remain at their crudest? A majority of people are not allowed to evolve these faculties because the resources essential for growth are denied to them. The idea of individuality remains alien to them. Marx was critiquing the political economy. But we have seen that the enslavement of the self also takes place in various other ways. Put slightly simplistically, the nation state has become an agency of the economy to subjugate the self. After religion, it is the nation at the altar of which people are willing to sacrifice their selves.

But the call of individual autonomy remained powerful. It means a person is not merely a serviceable entity, either for the economy or for the nation state. She can choose to distance or withdraw from them, and even try to create greater space for herself. However, the idea of the autonomy of the self or the individual is so difficult that even after 70 years of being a practising democracy, the Supreme Court — in

its verdict on privacy — had to remind not only the state, but the people as well, that individuals are not the creatures of the state. What the Court told us sounds strange to a lot of common people: Nobody can tell me that I have to salute the tricolour or keep the national anthem on my lips to claim legitimacy. My words, my colour, my tastes, my affection cannot be dictated by an agency outside me. For the Court to deliberate on it, the idea of individuality had to be refined by education, literature, art, and science. Teachers, poets, writers, artists, scientists have an enviable opportunity and luxury to practice individuality which is simply not available to everybody. It is natural that they are difficult to understand. It is therefore also easy to dub them as enemies of the people. Their ideas appear threatening or keep challenging people, asking them to break out of their lazy nationalist, or socialist, shell to discover and fashion their selves. It is also not difficult to see why in the last three years, the idea of an autonomous individual has been mercilessly assaulted. Constitution-makers had devised institutional mechanisms to assist individuals against such assaults. An individual lives only when these institutional processes function properly.



Date: 07-09-17

Mountains of garbage

Waste management rules continue to be ignored even a year after they were notified

EDITORIAL

The collapse of a great wall of garbage in east Delhi's Ghazipur area, sweeping people and vehicles into a nearby canal, is a stark reminder that India's neglected waste management crisis can have deadly consequences. More than a year after the notification of the much-delayed Solid Waste Management Rules, cities and towns are in no position to comply with its stipulations, beginning with the segregation of different kinds of waste at source and their scientific processing. Neither are urban local governments treating the 62 million tonnes of waste generated annually in the country as a potential resource. They have left the task of value extraction mostly to the informal system of garbage collectors and recyclers. Improving on the national record of collecting only 80% of waste generated and being able to process just 28% of that quantum, requires behaviour modification among citizens and institutions. But what is more important is that the municipal bodies put in place an integrated system to transport and process what has been segregated at source. The Swachh Bharat programme of the Centre has focused too narrowly on individual action to keep streets clean, without concurrent pressure on State and municipal authorities to move closer to scientific management by the deadline of April 2018 set for most places, and arrest the spread of pollution from trash.

In the absence of stakeholders at the local body level, recoverable resources embedded in discarded materials are lost due to dumping. Organic refuse, which forms about 50% of all garbage, readily lends itself to the generation of compost or production of methane for household use or power generation. But

it is a major opportunity lost. Organic waste that could help green cities and feed small and affordable household biogas plants is simply being thrown away. It is also ironic that while some countries such as Rwanda and Kenya have introduced stiff penalties for the use of flimsy plastic bags, India is doing little to prevent them from drifting into suburban garbage mountains, rivers, lakes and the sea, and being ingested by cattle feeding on dumped refuse. A new paradigm is needed, in which bulk waste generators take the lead and city managers show demonstrable change in the way it is processed. There has to be a shift away from large budgets for collection and transport by private contractors, to the processing of segregated garbage. As the nodal body for the implementation of the new rules, the Central Pollution Control Board should put out periodic assessments of the preparedness of urban local bodies in the run-up to the deadline. Without a rigorous approach, the national problem of merely shifting city trash to the suburbs, out of sight of those who generate it, will fester and choke the landscape. Considering that waste volumes are officially estimated to grow to 165 million tonnes a year by 2030, many more suburbs are bound to be threatened by collapsing or burning trash mountains.



Date: 07-09-17

नहीं सूझ रहा विकल्प

अभिषेक कुमार

शहरों में साफ-सफाई की व्यवस्था को लेकर केंद्र सरकार एक तरफ सर्वेक्षण करवाती रही है, जागरूकता अभियान चलाती है, तो दूसरी तरफ शहरों में ही लगे कूड़े के ढेर उसके सारे प्रयासों को धता बताते हैं। हाल में दिल्ली के गाजीपुर स्थित कूड़े के पहाड़ में हुए विस्फोट और भूस्खलन जैसे हालात ने दो जानें लील लीं और कई वाहन क्षतिग्रस्त कर दिए तो सरकार-प्रशासन को अहसास हुआ कि शहर के बीचों-बीच जमा होता कचरा कितनी अराजकता पैदा कर सकता है। विडम्बना यह है कि 70 एकड़ में फैले 50 मीटर से ज्यादा ऊंचे कूड़े के पहाड़ का कोई विकल्प अभी भी दिल्ली सरकार को नहीं सूझा है। विकल्प खोजना आसान है भी नहीं क्योंकि हमने पश्चिमी देशों से यूज एंड रो का रिवाज तो सीख लिया है। लेकिन उनकी तरह यह नहीं सीखा कि कूड़ा-करकट कैसे और कहां फेंका जाए, जिससे कि वह देश, समाज, जनता के लिए अभिशाप न बन जाए। शहरों में ठोस कूड़े-कचरे (सॉलिड वेस्ट) को ठिकाने लगाने के इंतजामों के बारे में रिपोर्ट है कि हमारे देश के ज्यादातर शहरों में कचरा निष्पादन के पुख्ता इंतजाम नहीं हैं। आज भी शहरी कचरे का 90 फीसद हिस्सा कहीं भी फेंक दिया जाता है। प्रशासन कूड़े को बटोर कर बिना किसी समुचित नियोजन के लैंडफिल के नाम पर खुले में कोई जगह तय कर देता है, जो आसपास के कई किलोमीटर इलाके में रहने वाले नागरिकों की सेहत और आबोहवा के लिए मुसीबत बन जाता है। दिल्ली में कुल तीन लैंडफिल हैं जो पूरी तरह भर चुके हैं। मुंबई में देवनार लैंडफिल इकलौती ऐसी जगह है। लखनऊ में शिवरी गांव स्थित लैंडफिल इसके लिए जाना जाता है। सिर्फ इन तीन शहरों में ही सबसे ज्यादा बदइंतजामी दिल्ली में दिखती है। मुंबई और लखनऊ में कचरे को छांटकर अलग किया जाता है ताकि उसकी रिसाइक्लिंग की सुविधा हो।

लखनऊ में शिवरी गांव के लैंडफिल में पहुंच कचरे में से सॉलिड वेस्ट की छंटाई होती है। उसमें से एकदम बेकार कचरा जमीन में खाद बनाने के लिए दबाया जाता है। शेष बचा 25 प्रतिशत कचरा रिसाइक्लिंग के लिए भेजा जाता है। लैंडफिल तक पहुंचने वाला कचरा कई

लोगों की रोजी-रोटी का जुगाड़ भी करता है। मोहल्लों-कॉलोनियों और आवासीय सोसाइटियों से कचरा उठाने, कचरे में कागज, कांच, धातु, सिंथेटिक व प्लास्टिक से बनी चीजें, चमड़े के सामान, दवाएं, क्रीम, अनाज-सब्जी, साबुन, डिट्जेट आदि में से बच्चे-नौजवान काम की चीजें छांटते हैं और काफी कचरा खुले में सड़क किनारे जला भी देते हैं। इससे भयानक प्रदूषण होता है। जाहिर है कि कूड़े के निस्तारण के आधुनिक प्रबंधों की जरूरत है, जिसमें शहरी कचरा न सिर्फ समुचित तरीके से ठिकाने लगाया जा सके बल्कि उसका ऐसा ट्रीटमेंट हो, जिससे भी बिना कोई प्रदूषण फैलाए गायब किया जा सके। इस बीच देश में स्मार्ट सिटी बनाने की परियोजना शुरू हो चुकी है पर कूड़े के निष्पादन के लिए गुजरात की स्मार्ट सिटी ‘‘गिफ्ट’’ जैसी व्यवस्था सभी जगह बन पाएगी-इसमें संदेह है। अहमदाबाद के नजदीक देश की इस पहली स्मार्ट सिटी में 12 किमी. लंबी एक भूमिगत सुरंग बनाई जा रही है। इस सुरंग से पूरे शहर के लिए पानी की पाइपलाइन, बिजली की लाइन, ऑप्टिकल फाइबर, सीवर व अन्य चीजों का जाल बिछाया जा रहा है। घरों और दफ्तरों में पैदा होने वाले ठोस कचरे को सुरंग के भीतर मौजूद एक पाइपलाइन के जरिए 90 किलोमीटर प्रति घंटे की रफ्तार से चूसने का इंतजाम किया जा रहा है, जहां से कूड़े को सीधे कचरा निष्पादन प्लांट में भेजा जाएगा। हमें विदेशी उदाहरणों की तरफ देखने की जरूरत नहीं है, बल्कि गिफ्ट और मौजूदा वक्त में इंदौर, भोपाल, विशाखापत्तनम जैसे शहरों की तरफ देखना होगा, जिन्होंने केंद्र सरकार के हालिया स्वच्छ सर्वेक्षण में साफ-सफाई के मामले में बड़ा उलटफेर किया है। इन शहरों ने स्वच्छता के मूल्यांकन के लिए पांच कसौटियों-कचरा जमा करने की प्रक्रिया, ठोस कचरे का प्रबंधन, शौचालय निर्माण, सफाई की रणनीति और इस पर लोगों से संवाद के तरीके-इन पर रैंकिंग में ऊंचा स्थान हासिल करके एक मिसाल कायम की है। इंदौर में स्वच्छता के लिए बड़े पैमाने पर और योजनाबद्ध प्रयास किए गए। ध्यान रहे कि देश के कई शहर कूड़े के ढेर के आगे निरुपाय हैं, तो इसकी एक बड़ी वजह यह है कि वहां के स्थानीय निकाय काहिली, भ्रष्टाचार और क्षुद्र राजनीति से ग्रस्त हैं। मगर इसकी काट तो ढूंढनी ही होगी।

Date: 07-09-17

रोहिंग्या किधर जाएं

प्रधानमंत्री नरेन्द्र मोदी की म्यामांर दौरे के पहले ही रोहिंग्या शरणार्थियों का मसला राजनीतिक रंग ले चुका है। रोहिंग्या शरणार्थियों का मसला सुप्रीम कोर्ट भी पहुंच चुका है। सरकार से इस मामले पर उसका रुख भी पूछा गया है। लेकिन ताजा विवाद केंद्रीय गृह राज्यमंत्री किरण रिजिजू के उस बयान से उपजा है, जिसमें उन्होंने कहा कि रोहिंग्या भारत में अवैध शरणार्थी हैं और इन्हें यहां से निकलना ही होगा। गौरतलब है कि भारत में अवैध ढंग से 40 हजार रोहिंग्या हैं, जो जम्मू, हैदराबाद, दिल्ली-एनसीआर, हरियाणा, उत्तर प्रदेश और राजस्थान में शरण लिये हैं। दरअसल, रोहिंग्या मुसलमानों को लेकर असली चिंता सुरक्षा व्यवस्था को लेकर है। पहले भी बांग्लादेशी घुसपैठियों की कानून-व्यवस्था से खिलवाड़ और आतंकी गुटों से उनकी संलिप्तता का दंश भारत भुगतता रहा है। लिहाजा भारत रोहिंग्या घुसपैठियों पर नरम रुख जतलाकर कोई जोखिम मोल नहीं लेना चाहता। अवैध तरीके से दूसरे देशों की बड़ी आबादी के बस जाने से ये लोग न केवल देश के नागरिकों की हकमारी करते हैं बल्कि सुरक्षा के लिए भी बड़ा खतरा रहते हैं। इसके अलावा, इनके घुलमिल जाने से सामाजिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक समस्याएं भी पैदा हो जाती हैं। इस नाते सरकार का घुसपैठियों के खिलाफ दो-टूक लहजे का अपना तर्क है। हालांकि, शरणार्थियों के भी अपने कष्ट और दर्द हैं। चूंकि म्यामांर भी रोहिंग्या मुसलमानों को अपने यहां के 135 नस्ली समूह में स्वीकार नहीं करता है। और यह मानवीय दृष्टिकोण से अच्छा कदम नहीं माना जा सकता है। म्यामांर में बौद्ध बहुसंख्यक हैं।

संयुक्त राष्ट्र संघ भी रोहिंग्या आबादी पर अत्याचार और उनकी घरवापसी को लेकर चिंतित है और इसका कोई सर्वमान्य हल तलाशना बेहद जरूरी है। भारत पर सख्त फैसला लेने और अमानवीय तरीके से सोचने के आरोप लग रहे हैं, लेकिन अपनी सुरक्षा किसी भी सरकार की पहली प्राथमिकता होती है। वैसे भी भारत को दक्षिण-पूर्व एशिया में सामरिक और कूटनीतिक बढ़त हासिल करने के लिए म्यांमार का साथ देना जरूरी है। दोनों देशों को इस बात पर एकमत होना ही होगा, जिससे चीन को म्यांमार में घुसपैठ का मौका न मिले। यानी कि भारत को फूँककर कदम उठाना होगा।



Date: 07-09-17

विवेक पर हमला

संपादकीय

पत्रकार गौरी लंकेश की हत्या से एक बार फिर देश में लोकतंत्र की बुनियाद और उसमें असहमत स्वरों की जगह को लेकर गंभीर चिंता पैदा हुई है। गौरी लंकेश जिस तरह अपने निर्भीक लेखन और बेबाक विचारों को अभिव्यक्त करने का उदाहरण बन गई थीं, उसमें उनकी हत्या पत्रकारिता पर भी हमला है। गौरतलब है कि मंगलवार की रात आठ बजे बंगलुरु के राजराजेश्वरी नगर में उनके घर पर ही तीन लोगों ने करीब से कई गोलियां मारीं और उनकी वहीं मौत हो गई। फिलहाल यह पता नहीं चल पाया है कि हत्या के पीछे कौन लोग थे, लेकिन शुरुआती जांच के मुताबिक राज्य के मुख्यमंत्री सिद्धारमैया ने कहा कि गौरी लंकेश की हत्या में भी ऐसे ही हथियार का इस्तेमाल किया गया, जिनसे गोविंद पानसरे, एमएम कलबुर्गी और नरेंद्र दाभोलकर की हत्या की गई थी। अब चूंकि इस घटना से समूचे देश में विरोध के स्वर मुखर हो रहे हैं, इसलिए मामले की जांच के लिए विशेष टीमों का गठन कर दिया गया है और असलियत जांच के बाद ही सामने आएगी। लेकिन जो तथ्य सामने आ रहे हैं, उनसे यही संकेत उभर रहे हैं कि गौरी लंकेश की हत्या में कट्टरपंथी तत्वों का हाथ हो सकता है। गौरी एक साप्ताहिक 'लंकेश पत्रिके' की संपादक थीं और आमतौर पर इसे जनता के पक्ष में व्यवस्था विरोधी स्वर के रूप में देखा जाता रहा है। कर्नाटक में सांप्रदायिक राजनीति और उसमें राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की भूमिका के खिलाफ गौरी ने लगातार लिखा। उसके चलते वे पहले ही कुछ लोगों और समूहों के निशाने पर थीं और उन्हें कई बार धमकियां भी मिल चुकी थीं। लेकिन उन्होंने बिना डरे अपनी पत्रिका में लिखना और सांप्रदायिकता के खिलाफ बोलना जारी रखा। उनकी आलोचना के घेरे में मुख्य रूप से केंद्र सरकार और भाजपा की नीतियां थीं। जाति-व्यवस्था के अन्याय और स्त्री से जुड़े सवाल सहित वे देश में जिस तरह सामाजिक-राजनीतिक मुद्दों पर मुखर और सक्रिय थीं, उससे स्वाभाविक ही उन लोगों या समूहों के रास्ते में बाधा पहुंच रही थी जो केवल समाज को बांटने की राजनीति करते हैं। यों गौरी लंकेश के पहले कर्नाटक में ही सांप्रदायिकता और अंधविश्वासों के विरुद्ध जमीनी स्तर पर काम करने की वजह से तर्कवादी एमएम कलबुर्गी की हत्या की जा चुकी है।

इसी तरह के काम के लिए महाराष्ट्र में नरेंद्र दाभोलकर और गोविंद पानसरे की भी हत्या कर दी गई थी। दरअसल, कट्टरपंथ और नफरत की राजनीति के बूते जिंदा रहने वाले समूहों के सामने वैसे ही लोग चुनौती होते हैं जो साधारण लोगों को उनकी हकीकत बताने की हिम्मत करते हैं। गौरी लंकेश की हत्या इसलिए भी समूचे देश और किसी भी लोकतांत्रिक समाज के लिए चिंता की बात होनी चाहिए कि अखबार-पत्रिका या कोई भी समाचार माध्यम सच को सामने लाने का जरिया होते हैं। इसके जरिए उठे सवालों को दफन करने की कोशिश किसी भी समाज के प्रगतिशील मूल्यों और सभ्य विचारों पर हमला है। यह ध्यान रखने की जरूरत है कि नरेंद्र

दाभोलकर, गोविंद पानसरे और एमएम कलबुर्गी की तरह गौरी लंकेश की हत्या की वजहें भी एक ही प्रकृति की हैं और अब तक उन मामलों के असली अपराधियों को सजा नहीं हो सकी है। इससे बड़ी विडंबना और क्या हो सकती है कि असहमति की जो आवाजें विवेक की कसौटी पर किसी समाज के निर्माण की वकालत करती हैं, उन्हें ही कुछ लोग दुश्मन मान कर खत्म कर देते हैं। अगर सरकारें चाहती हैं कि नफरत और हिंसा के प्रतिगामी मूल्यों की राजनीति से देश और समाज को बचाया जाए तो इनके वास्तविक दोषियों को जल्दी सजा के मुकाम तक पहुंचाने की जरूरत है।
